हिन्दी जैन गीतकाव्य में कर्म-सिद्धांत

□ (स्व०) प्रो० श्रीचन्द्र जैन
मोहन निवास, कोठी रोड, उज्जैन (म० प्र०)

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का जो गहन विवेचन किया गया है वह वैज्ञानिक है तथा साथ ही साथ तात्त्विक भी। जैनाचार्यों ने निष्पक्षभाव से कर्म-मीमांसा को इस प्रकार निरूपित किया है कि यह सामान्य जन को भी ग्राह्य है और मनीषियों के लिए भी बुद्धि-संगत है।

यह तो स्पष्ट ही है कि आत्मा के सहज स्वरूप को कलुषित करने वाले कर्म ही हैं। यदि साधना की आग में कर्म दग्ध कर दिये जायं तो निष्कलंक बनकर आत्मा अलौकिक दिव्य आभा से शीघ्र ही प्रकाशित हो उठती है एवं अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हो जाती है। लेकिन कर्म-पाश में आबद्ध यह जीव स्वलक्ष्य को भूलकर रागद्वेष के कर्दम में पतित होता है एवं अपनी प्रतिभा को कलंकित करता रहता है। महाकवि दौलतराम ने जीव की इस दूषित प्रवृत्ति का चित्रण इस प्रकार किया है—

जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव गैलवा ॥
मोहमदवारि पियौ, स्वपद विसार दियौ।
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुख में रचियो ॥
भवतैं न भियौ न तजियौ मन-मैलवा।
जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव गैलवा ॥
मिथ्या ज्ञान आचरन धरिकर कुमरन।
तीन लोक की धरन तामैं कियौ है फिरन ॥
पायौ न सरन, न लहायौ सुख-शैलवा।
जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव-गैलवा ॥
अब नरभव पायौ, सुथल सुकुल आयौ।
जिन उपदेस भायौ, दौल झट झिटकायौ ॥
पर परनति दुखदायिनी चुरैलवा।
जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव गैलवा ॥

कर्मों के वशीभूत होकर इस प्राणी ने स्व-पर विवेक को भुलाया, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति की ओर आकृष्ट न हुआ, विषय-सुख में उल्लसित होकर उसने ऐसे दुष्कृत्य किये जो उसकी नैसर्गिक प्रगति के लिए घातक सिद्ध हुए तथा भोगों में निमग्न रहकर वह अपना ही विद्रोही बना।

भगवन्त-भजन क्यों भूला रे ?
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि बबूला रे !
भगवन्त-भजन क्यों भूला रे ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस जीवन का कौन भरोसा पावक में तृण-पूला रे !
काल कुदाल लिये सिर ठाड़ा क्या समझै मन फूला रे !
भगवन्त भजन क्यों भूला रे !
स्वारथ साधै पांच पांव तू, परमारथ को लूला रे !
कहु कैसे सुख पैहे प्राणी काम करै दुख मूला रे !
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?
मोह पिशाच छल्यौ मति मारै, निज कर कंध वसूला रे !
भज श्रीराजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे !
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?

साधक के आत्म-विकास में जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे जैन शास्त्र कर्म कहते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने कर्म शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। वैयाकरण जो कर्त्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो उसे कर्म मानते हैं। यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड को मीमांसा-शास्त्री कर्म जानते हैं। वैशेषिक दर्शन में कर्म की इस प्रकार परिभाषा दी है—जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे। सांख्य दर्शन में संस्कार अर्थ में कर्म का प्रयोग हुआ है। गीता में क्रिया-शीलता को कर्म मान अकर्णयता को हीन बताया है। महाभारत में आत्मा को बाँधने वाली शक्ति को कर्म मानते हुए शान्तिपर्व २४०-७ में लिखा है—प्राणी कर्म से बँधता है और विद्या से मुक्त होता है। बौद्ध साहित्य में प्राणियों की विविधता का कारण कर्मों की विभिन्नता कहा है। कर्म की बंधन नाम की एक अवस्था का वर्णन करने वाला तथा चालीस हजार श्लोक प्रमाण वाला महाबंध नाम का जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में अभी विद्यमान है। जैनाचार्य बताते हैं कि आत्मा के प्रदेशों में कंपन होता है और उस कंपन से पुद्गल (Matter) का परमाणु-पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, उसे कर्म कहते हैं। प्रवचनसार के टीकाकर अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन-विशेष को प्राप्त पुद्गल भी कर्म कहलाता है। जिन भावों के द्वारा पुद्गल आकर्षित हो जीव के साथ सम्बन्धित होता है उसे भावकर्म कहते हैं और आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गलपिण्ड को द्रव्यकर्म कहते हैं। स्वामी अकलंकदेव का कथन है—जिस प्रकार पात्रविशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मद्यरूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दनरूप योग के कारण कर्मरूप परिणमन होता है। पंचाध्यायी में यह बताया है कि आत्मा में एक वैभाविक शक्ति है जो पुद्गल-पुंज के निमित्त को पा आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमन करते हैं। तात्त्विक भाषा में आत्मा पुद्गल का सम्बन्ध होते हुए भी जड़ नहीं बनता और न पुद्गल इस सम्बन्ध के कारण सचेतन बनता है।

प्रवचनसार की संस्कृत टीका में तात्त्विक दृष्टि को लक्ष्य कर यह लिखा है—द्रव्यकर्म का कर्त्ता कौन है ? स्वयं पुद्गल का परिणमन-विशेष ही। इसलिए पुद्गल ही द्रव्य कर्मों का कर्त्ता है, आत्म परिणाम रूप भावकर्मों का नहीं। अत: आत्मा अपने-अपने स्वरूप से परिणमन करता है। पुद्गल स्वरूप से नहीं।

कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध पर्याय में जीव और पुद्गल की ऐसी नवीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध जीव में पायी जाती है और न शुद्ध पुद्गल में ही। जीव और पुद्गल अपने अपने गुणों से च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते हैं। राग, द्वेष, युक्त आत्मा पुद्गल पुंज को अपनी ओर आकर्षित करता है। जैसे चुम्बक लोहा आदि पदार्थों को आकर्षित करता है। यह अज्ञानी जीव इष्ट-अनिष्ट संकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय-अप्रिय कल्पना करता है जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस राग-द्वेष से दृढ़ कर्म का बन्ध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह कर्मचक्र राग-द्वेष के निमित्त से सतत चलता रहता है और जब तक राग-द्वेष, मोह के वेग में न्यूनता न होगी तब तक यह चक्र अबाध गति से चलता रहेगा। राग-द्वेष के बिना जीव की क्रियाएँ बन्धन का कारण नहीं होतीं। इस विषय को कुन्दकुन्द स्वामी समयप्राभृत में समझाते हुए लिखते हैं कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तैल से लिप्त कर धूलिपूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र-संचालन रूप व्यायाम करता है और ताड़, केला, बांस आदि के वृक्षों का छेदन-भेदन भी करता है। उस समय धूलि उड़कर उसके शरीर से चिपट जाती है। यथार्थ में देखा जाय तो उस व्यक्ति का शस्त्र-संचालन शरीर में धूलि चिपकाने का कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तैल का लेप है, जिससे धूलि का सम्बन्ध होता है। यदि ऐसा न हो तो वही व्यक्ति जब बिना तैल लगाये पूर्वोक्त शस्त्र-संचालन कार्य करता है तब उस समय वह धूलि शरीर में क्यों नहीं लिप्त होती? इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तैल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को इतनी मलीन बना पराधीन कर देती है कि अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा क्रीतदास के समान कर्मों के इशारे पर नाचा करती है।[1]

जैन दर्शन में आठ कर्म माने गये हैं। ये ही आत्मा के निर्मल स्वरूप को किसी न किसी प्रकार धूमिल बनाते रहते हैं। इस सन्दर्भ में ४ घातिया कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अंतराय) का आत्मविकास में विरोधी रूप विशेष चर्चित है। आत्मा के गुणों का घात करने के ही कारण ये घातिया कर्म कहे गये हैं। शेष कर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) अघातिया हैं। यद्यपि ये प्रत्यक्ष रूप में आत्मा के विकास में घातक नहीं हैं फिर भी मोहनीय के कुप्रभावशाली शासन में रहकर ये (अघातिया कर्म) जीव के विकास में बाधाएँ उपस्थित करते रहते हैं और उसे सच्चिदानन्द की प्राप्ति से कोसों दूर रखते हैं। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा अपनी उत्कृष्ट साधना से कर्मों का क्षय करती है तथा इनके नाश हो जाने पर वह मोक्षस्थ बन जाती है। सिद्ध-स्वरूप की उपलब्धि तपश्चर्या की चरम फल-प्राप्ति है। सर्वज्ञता से समलंकृत आत्मा निज स्वरूप में लीन रहती हुई अरहंत कहलाती है। यह रूप चार घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है। सत्य तो यह है कि रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र) रूपी तलवार को यदि साधक ग्रहण करता है तो फिर कर्म-शत्रुओं का विनाश अविलम्ब निश्चित है। इन आठ कर्मों[2] का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म**—आत्मा के ज्ञान गुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न होता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता, जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानों के भेदानुसार पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं, जिससे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्यवज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

(२) **दर्शनावरणीय कर्म**—यह आत्मा के दर्शन नामक चैतन्यगुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय ये नौ उत्तरप्रकृतियाँ हैं।

(३) **मोहनीय कर्म**—जीव में मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय, जो क्रमशः दर्शन व चारित्र में उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शनमोहनीय की उत्तरप्रकृतियाँ तीन हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्रमोहनीय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि, एवं पुरुष, स्त्री व नपुंसकवेद—ये नौ नोकषाय मिलाने

१. श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर—जैन शासन—कर्म सिद्धान्त नामक अध्याय से साभार।

२. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तरप्रकृतियों की संख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सबसे अधिक प्रबल व प्रभावशाली है, और प्रत्येक प्राणी के समग्र जीवन में अत्यन्त व्यापक व उसके लोक चरित्र के निर्माण अथवा विनाश में समर्थ सिद्ध होता है।

इस कर्म के कुप्रभाव से जीव भ्रमित होकर स्व-पर-भेद को विस्मृत करता है तथा परत्व को स्वकीय मानकर उसमें तन्मय हो जाता है। अनेक दुर्गुण इसके माध्यम से उत्पन्न होते हैं और प्राणी कुकर्म करता हुआ भी नहीं हिचकता। मोह-मदिरा के वश में होकर यह जीव उन्मत्त बनता है और कर्तव्याकर्तव्य के भेद को भूलकर ऐसे निन्द्य कुकार्यों में अथवा कहिए पापों में रम जाता है जिसके कारण उसे दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। धर्मक्रियाएँ उसके लिए गौण हो जाती हैं तथा विषय-भोग ही ऐसे मूढ़ को सर्वोपरि प्रतीत होते हैं। जैनाचार्यों और जैन कवियों ने मोहनीय कर्म के कुप्रभाव से बचने के लिए, जीव को विविध रूपों में सम्बोधित किया है एवं उसे ऐसे मनोरम प्रबोधन दिए हैं जो निरन्तर स्मरणीय हैं। मोह का दूसरा नाम माया है जिसकी भर्त्सना समस्त सन्तों एवं विचारकों ने की है। कविवर रूपचन्द जी कहते हैं कि मोह के वशीभूत होकर यह चेतन अन्य के प्रेम में लीन हो रहा है—

चेतन परस्यौं प्रेम बढ्यो ॥

स्वपर-विवेक बिना भ्रम भूल्यो मैं मैं करत रह्यो।
चेतन परस्यौं प्रेम बढ्यो ॥१॥

नर भव रतन जतन बहु तैं करि कर तेरे आइ चढ्यो।
सु क्यौं विषय-सुख लागि हारिए, सब गुन गढनि गढ्यो ॥
चेतन परस्यौं प्रेम बढ्यो ॥२॥

आरंभ के कुसियार कीट ज्यौं, आपुहि आप मढ्यो।
रूपचंद चित चेतन नाहि तैं, सुक ज्यौं वादि पढ्यो ॥
चेतन परस्यौं प्रेम बढ्यो ॥३॥

महाकवि दौलतराम के कथनानुसार यह जीव मोह-मदिरा पीकर अयाना (अज्ञानी) बना हुआ है तथा पर-परणति में तल्लीन होकर निजस्वरूप को भूल चुका है। यह सब मोहनीय कर्म का ही प्रभाव है—

निपट अयाना तैं आपा नहिं जाना, नाहक भरम भुलाना वे।
निपट अयाना, तैं आपा नहिं जाना ॥
पीय अनादि मोहमद मोह्यो, पर पद में निज माना वे।
निपट अयाना ॥१॥
चेतन चिह्न भिन्न जड़ता सौं, ज्ञान दरस रस साना वे।
तन में छिप्यो लिप्यो न तदपि ज्यों, जल में कजदल माना वे ॥
निपट अयाना ॥२॥
सकल भाव निज-निज परनतिमय कोई न होय बिराना वे।
तू दुखिया पर कृत्य मानि ज्यों, नभ ताड़न श्रम ठाना वे ॥
निपट अयाना ॥३॥
अजगन में हरि भूल अपनयो, भयो दीन हैराना वे।
दौल सुगुरु धुनि सुनि निज में निज, आप लह्यो सुख थाना वे ॥
निपट अयाना ॥४॥

कविवर बनारसीदास की यह दृढ़ मान्यता है कि यह चेतन मोह के वशीभूत होकर उल्टी चाल चल रहा है। यह तो इतना विमूढ़ हो गया है कि प्रमुदित होकर वह अपने गले में स्वयं विषय-वासना की फाँसी डाल रहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतन उलटी चाल चले ।।
जड़ संगत तैं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले ।
चेतन उलटी चाल चले ।।१।।
हित सों विरचि ठगनिसों राचे, मोह पिशाच जले ।
हँसि हँसि फंद सवारि आपही, मेलत आप गले ।।
चेतन उलटी चाल चले ।।२।।
आये निकसि निगोद सिंधु से, फिर तिह पंथ टले ।
कैसे परगट होय आग जो, दबी पहार तले ।।
चेतन उलटी चाल चले ।।३।।
भूले भव-भ्रम बीचि बनारसि, तुम सुज्ञान भले ।
धर शुभ ध्यान ज्ञान नौका चढ़ि, बैठे ते निकले ।।
चेतन उलटी चाल चले ।।४।।

इस प्रकार के सैंकड़ों पद हैं जिनमें मोहनीय कर्म के प्रबल प्रभाव को प्रदर्शित करके चेतन को सजग बनाने का प्रयास किया गया है।

(४) **अन्तराय कर्म**—जो कर्म जीव के बाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, वह अन्तराय कर्म कहा गया है। उसकी पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तिराय। ये क्रमशः जीव के दान करने, लाभ लेने, भोज्य व भोग्य पदार्थों का एक बार में अथवा अनेक बार में, सुख लेने एवं किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणों के विकास में बाधक होते हैं।[1]

(५) **वेदनीय कर्म**—डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं—जो कर्म जीव को सुख व दुःख रूप वेदना उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कहते हैं। इसकी उत्तरप्रकृतियाँ दो हैं—सातावेदनीय, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है और असातावेदनीय, जो दुःख का अनुभव कराता है।[2]

(६) **आयुकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यंच गति में आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है। इसकी चार उत्तरप्रकृतियाँ हैं—१. देवायु, २, नरकायु, ३. मनुष्यायु व ४. तिर्यंचायु।

जीवन-मरण की यह सारी क्रीड़ा इसी आयु में कर्म पर आधारित है। इन विभिन्न योनियों में नियत काल की अवस्थिति यही कर्म करता है। आयु की समाप्ति पर कोई भी शक्ति जीव को जीवित जहीं रख सकती है—

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ।।

आयु कर्म की प्रभावशीलता को न समझने वाले व्यक्ति ईश्वर की प्रधानता को स्वीकार कर उसकी अनुकम्पा को ही आयु की वृद्धि में परम सहायक मानते हैं, लेकिन यह मान्यता निरर्थक है। काल की समर्थता के सम्बन्ध में कविवर भूधरदास का यह कवित्त विचारणीय है—

लोह मई कोट केई कोटन की ओट करो,
काँगरेन तोप रोपि राखो पट भेरि कैं।

१. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ २२८
२. वही, पृ० २२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्र चन्द्र चौकायत चौकम है चौकी देहु,
चतुरंग चमू चहूं ओर रहो घेरि कैं।
तहां एक भौंहिरा बनाय बीच बैठो पुनि,
बोलो मत कोऊ जो बुलावैं नाम टेरिकैं।
ऐसी परपंच पांति रचो क्यों न भाँति-भाँति,
कैसे हु न छोड़े जम देखो हम हेरिकैं॥

इसी सन्दर्भ में निम्नस्थ पंक्तियां सांसारिक क्षणभंगुरता के साथ जीवन की असारता, एकाकीपन और अस्थिरता को भी प्रमाणित करती हैं—

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥
दल बल देई देवता, माता-पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार॥
दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥
आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यों कबहूं इस जीव को, साथी सगा न कोय॥[1]

(७) **गोत्रकर्म**—जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिका आदि को छोटे-बड़े घट के रूप में परिणत कर दिया करता है, उसी प्रकार छोटे-बड़े भेदों से विमुक्त इस जीव को गोत्र कर्म कभी उच्च कुल में जन्म धारण कराता है तो कभी हीन संस्कार, दूषित आचार-विचार एवं हीन-परम्परा वाले कुलों में उत्पन्न कराता है। सदाचार के आधार पर उच्चता और कुलीनता अथवा अकुलीनता और नीचता के व्यवहार का कारण उच्च-नीच गोत्र कर्म का उदय है। आज वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी उच्चता-नीचता पौराणिकों की मान्यता मानी जाती है। किन्तु जैन शासन में उसे गोत्र कर्म का कार्य बताया है। पवित्र कार्यों के करने से तथा निरभिमान वृत्ति के द्वारा यह जीव उच्च संस्कार सम्पन्न वंश परम्परा को प्राप्त करता है। शिक्षा, वस्त्र, वेश-भूषा आदि के आधार पर संस्कार तथा चरित्र-हीन नीच व्यक्ति शरीर परिवर्तन हुए बिना उच्च गोत्र वाले नहीं बन सकते, क्योंकि उच्च गोत्र के उदय के लिए उच्च संस्कार परम्परा में उत्पन्न शरीर को नोकर्म माना है। (जैन शासन, पृ० २२८)

डा० हीरालाल जैन के मतानुसार[2] लोक-व्यवहार सम्बन्धी आचरण गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक-पूजित आचरण की परम्परा है उसे उच्च गोत्र और जिसमें लोक निन्दित आचरण की परम्परा है उसे नीच गोत्र नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है और उसकी तदनुसार उच्च गोत्र व नीच-गोत्र ये दो ही उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा में भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त में उसकी उच्चता और नीचता में आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

(८) **नाम कर्म**—जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों के योग से सुन्दर अथवा भीषण आदि चित्रों को बनाया करता है। उसी प्रकार नामकर्म रूपी चित्रकार इस जीव को भले-बुरे, दुबले-पतले, मोटे-ताजे, लूले-लंगड़े, कुबड़े, सुन्दर अथवा सड़े-गले शरीर में स्थान दिया करता है। इस जीव की अगणित आकृतियाँ और विविध प्रकार के शरीरों का निर्माण नामकर्म की कृति है। विश्व की विचित्रता में नामकर्म रूपी चितेरे की कला

१. डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० ३४३.
२. डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० २२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिव्यक्त होती है। शुभ नाम कर्म के प्रभाव से मनोज्ञ और सातिशय अनुपम शरीर का लाभ होता है। अशुभ नाम कर्म के कारण निन्दनीय असुहावनी शारीरिक सामग्री उपबब्ध होती है। जो लोग जगत् का निर्माता किसी विधाता या स्रष्टा को बताते हैं, यथार्थ में वह इस नामकर्म के सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। आचार्य भगवज्जिनसेन ने इस नामकर्म को ही वास्तविक ब्रह्मा, स्रष्टा अथवा विधाता कहा है—

विधिः स्रष्टा विधाता च, दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ।। —महापुराण ३७।४

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चौरासी लाख योनियों में जो जीवों की अनन्त आकृतियाँ हैं उनका निर्माता यह नामकर्म है।[1]

नामकर्म के मुख्य भेद ४२ तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ९३ उत्तारप्रकृतियाँ मानी गई है। यहाँ पर भी विचारणीय है कि इन कर्मों का कर्त्ता स्वयं जीव ही है तथा शुभाशुभ फल का भोक्ता भी यही चेतन है। यह जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। जैन सिद्धान्त का यही मत है जो पूर्णरूपेण तर्कसंगत होने से मान्य है। इस सिद्धान्त में अन्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। यह जीव संसार में अकेला भ्रमण करता हुआ कर्मों का बंध करता है। कविवर भागचन्द्र ने इस सत्य को इस रूप में चित्रित किया है—

जीव तू भ्रमत सदैव अकेला। संग साथी कोई नहीं तेरा।
अपना सुख दुःख आप ही भुगतैं, होत कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयै सब बिछुर जात हैं, विघट जात ज्यों मेला ।।१।।
रक्षक कोई न पूरन ह्वै जब आयु अंत की बेला।
फूटत पार बँधत नहिं जैसे, दुद्धर जल को ठेला ।।२।।
तन धन जोवन विनश जात, ज्यों इन्द्रजाल को खेला।
भागचंद इमि लखकर भाई, हो सतगुरु का चेला ।।३।।
जीव तू भ्रमत सदैव अकेला ।।

दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है क्योंकि सब जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुःख स्वयंकृत व स्वयंकृत-कर्म का फल हैं। एक को दूसरों के दुःख-सुख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञान है, सो ही कहा है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदयान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य, कर्यात्पुमान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् ।।

यदि एक प्राणी को दूसरे के सुख-दुःख और जीवन-मरण का कर्ता माना जाय तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे, क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या हमें सुख दे सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ है। क्योंकि उनके फल को भोगना आवश्यक तो है ही नहीं? और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगना ही होगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। इसी बात को अमितगति आचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

स्वयं कृतः कर्म यदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।।

---

१. श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, पृ० २२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥[1]

महाकवि दौलतरामजी ने भी इस सर्वव्यापक तथ्य को अपने सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'छहढाला' में निरूपित कर जीव को आत्मोद्धार के लिए प्रेरित किया है—

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगैं जिय एकहि ते ते ।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥

प्रबुद्ध मानव अपनी सतत साधना से इस दूषित मान्यता को नष्ट करता है और फिर वास्तविकता की ओर आकृष्ट होकर विचारने लगता है कि—

हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्योहारा ।
तन संबंधी सब परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा ॥ १ ॥
पुन्य उदय सुख का बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा ।
पाप पुन्य दोऊ संसारा, मैं सब देखन जानन हारा ॥ २ ॥
मैं तिहुंजग तिहुंकाल अकेला, पर संबंध हुआ बहु मैला ।
थिति पूरी कर खिरखिर जाहीं, मेरे हरख शोक कछु नाहीं ॥ ३ ॥
राग-भाव ते सज्जन मानैं, द्वेष-भाव ते दुर्जन माने ।
रागदोष दोऊ मम नाहीं, द्यानत मैं चेतन पद माहीं ॥ ४ ॥

किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल यह जीव स्वयं भोगता ही है। पापों के कष्टदायक परिणाम से यह चेतन किसी भी प्रकार से बच नहीं सकता। कवि धर्मपाल के शब्दों में कर्मभोग तो भोगने से ही छूट सकते हैं, इसमें अन्य की सहायता माँगना केवल मूढ़ता है—

जिया तू दुख से काहे डरे रे ।
पहले पाप करत नहिं शंक्यो, अब क्यों साँस भरे रे ॥ १ ॥
करम भोग भोगे ही छुटेंगे, शिथिल भये न सरे रे ।
धीरज धार मार मन ममता, जो सब काज सरे रे ॥ २ ॥
करत दीनता जन जन पे तू, कोई न सहाय करे रे ।
'धर्मपाल' कहैं सुमरो जगतपति, वे सब विपति हरे रे ॥ ३ ॥

इस कर्मसिद्धान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में इस जीव का (शुभ-अशुभ कर्म के सिवाय) कोई अन्य न तो हित करता है और न अहित। मिथ्यात्व कर्म के अधीन होकर धर्म-मार्ग का त्याग करने वाला देवता भी मर कर एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। धर्माचरण रहित चक्रवर्ती भी सम्पत्ति न पाकर नरक में गिरता है। इसलिए अपने उत्तरदायित्व को सोचते हुए कि इस जीव का भाग्य स्व-उपार्जित कर्मों के अधीन है, धर्माचरण करना चाहिए। स्वामि कार्तिकेय मुनिराज ने उपर्युक्त सत्य को इस प्रकार प्रकाशित किया है—

ण य कोवि देइ लच्छी ण कोवि जीवस्स कुणइ उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥
देवो वि धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि ।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण सम्पदे होदि ॥ ४३५ ॥ —स्वामि कीर्तिकेयानुप्रेक्षा[2]

१. डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, धार्मिक सहिष्णुता और तीर्थंकर महावीर (महावीर जयंती स्मारिका १९७३), पृ० १-५७
२. जैन शासन (पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर) पृ० २४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनीषियों के सुविचारित मत से प्रत्येक प्राणी को कर्माधीन रहकर अपने जीवन को व्यतीत करना है एवं अमिट कर्म-रेखा के फल को भोगना ही है। यह कर्मवाद, भवितव्यता, विधि-विधान, नियतिवाद, भाग्यवाद, परिस्थिति चक्र आदि कई नामों से अभिहित किया गया है। कविवर प्रसाद का नियतिवाद इस सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।

कवि बुधजन के "कर्मन की रेखा न्यारी रे" पद में अनेक उदाहरणों के माध्यम से भवितव्यता की परिपुष्टि की है जो कर्मवाद का एक रूप ही है—

कर्मन की रेखा न्यारी रे, विधिना टारी नाहिं टरै॥
रावण तीन खण्ड को राजा, छिन में नरक पड़ै।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के वन में जाय मरे॥ १॥
हनुमान की मात अंजना वन-वन रुदन करै।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध करैं॥ २॥
राम अरु लछमन दोनों भाई सिय के संग वन में फिरै।
सीता महासती पतिव्रता, जलती अगनि परै॥ ३॥
पांडव महाबली से योद्धा तिनकी त्रिया को हरै।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न जनमत देव हरै॥ ४॥
को लग कथनी कीजे इनकी, लिखता ग्रन्थ भरै।
धर्म सहित ये करम कौन सा, बुद्धजन यों उचरै॥ ५॥

—हिन्दी पद संग्रह, पृ० २०१

जैन दार्शनिकों ने अपने परमात्मा या ईश्वर को उसके कर्तृत्व में उपस्थित होने वाले दोषों से मुक्त रखा है और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के सम्बन्ध में पूर्णतः उत्तरदायी बनाया है।

इस लेख की समाप्ति के पूर्व यह विचार करना भी आवश्यक है कि जीव और कर्म-बंध सादि है या अनादि। कतिपय विचारकों की मान्यता है कि ईश्वर-अंश होने के कारण जीव प्रारम्भ में विशुद्ध था। माया के वशीभूत होकर वही सकलंक बन गया है। इस प्रकार की मान्यता अथवा धारणा कैसे मान्य कही जा सकती है। ऐसा कौन चेतन होगा, जो स्वयं निर्मल रूप को छोड़कर घृणित शारीरिक बंधन में आबद्ध होना चाहेगा। मानसरोवर-निवासी हंस क्या पंकमय पोखर में रहना पसन्द करेगा? कभी नहीं। इसी प्रकार विशुद्ध चेतन का कर्मसत्व से मलीन होने की लालसा या कहिए मलाकर्षण अभिरुचि कहाँ तक संगत कही जा सकती है। वस्तुतः इस जीव का यह संसार परिभ्रमण अनादि है तथा उसकी समाप्ति भी सम्भव है। साधना, तप आदि के द्वारा कर्मक्षय से यह भ्रमण समाप्त होता है और चेतन विशुद्ध बनकर सिद्ध रूप में विश्वपूज्य हो जाता है। यह कोई नियम नहीं है कि जो अनादि है, वह अनन्त भी होगा। भव्य जीवों के लिए यह अनादि कर्म-बंधन आदि है लेकिन अभव्य के लिए यही कर्मजनित अनादि परिभ्रमण अनन्त कहा गया है।

जैन शासन में पं० सुमेरुचन्द दिवाकर लिखते हैं कि इस कर्म का और आत्मा का कब से सम्बन्ध है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि कर्मसन्तति-परम्परा की अपेक्षा यह सम्बन्ध अनादि से है। जिस प्रकार खान से निकाला गया सुवर्ण कालिमादि विकृति सम्पन्न पाया जाता है, पश्चात् अग्नि तथा रासायनिक द्रव्यों के निमित्त से विकृति दूर होकर शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि होती है, इसी प्रकार अनादि से यह आत्मा कर्मों की विकृति से मलीन हो भिन्न-भिन्न योनियों में पर्यटन करता फिरता है। तपश्चर्या, आत्म-श्रद्धा, आत्म-बोध के द्वारा मलिनता का नाश होने पर यही आत्मा परमात्मा बन जाती है। जो जीव आत्म-साधना के मार्ग में नहीं चलता, वह प्रगति-हीन जीव सदा दुःखों का भार उठाया करता है। यह कर्म-बंधन पर्याय की दृष्टि से अनादि नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अनादि सम्बन्धे च' (२. ४१) सूत्र द्वारा यह बता दिया है कि कर्मसन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वह सादि सम्बन्ध वाला है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डालें तो परम्परा की दृष्टि से उनका कार्य-कारणभाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे हुए नीम के वृक्ष का कारण हम उसके बीज को कहेंगे। यदि हमारी दृष्टि अपने नीम के झाड़ तक ही सीमित है तो हम उसे बीज से उत्पन्न कह सादि सम्बन्ध सूचित करेंगे किन्तु इस वृक्ष के उत्पादक बीज के जनक अन्य वृक्ष और उसके कारण अन्य बीज आदि की परम्परा पर दृष्टि डालें तो इस सम्बन्ध को अनादि मानना होगा। किन्हीं दार्शनिकों को यह भ्रम हो गया है कि जो अनादि है, उसे अनन्त होना ही चाहिए। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है, अनादि वस्तु अनन्त हो, न भी हो। यदि विरोधी कारण आ जावे तो अनादिकालीन सम्बन्ध की भी जड़ उखाड़ी जा सकती है। (पृ० २१५-१६)

जैन सिद्धान्तानुसार आत्मा का चरम लक्ष्य सांसारिक बंधनों से मुक्त होना है तथा एतदर्थ उसे निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

□□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org